धर्म सुधार

पुनर्जागरण से पहले यूरोप पर कैथोलिक चर्च का एक-छत्र साम्राज्य था। व्यक्ति जन्म लेने के साथ ही चर्च की शरण पाता था और मृत्यु-पर्यन्त चर्च से नियन्त्रित रहता था। चर्च का संगठन मजबूत होने से चर्च का विरोध बहुत मुश्किल था। चर्च का इतना प्रभाव था कि वह भी राज्य के समान कर वसूल करता था। सम्राटों को भी पोप के सामने घुटने टेकने पड़ते थे। व्यक्ति यदि पाप करता तो चर्च में प्रायश्चित का विधान था। जीवन की अन्तिम सीढ़ी में चर्च व्यक्ति को आश्वस्त करता था कि वह उसे अगली यात्रा में भी मदद करेगा। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज धर्म-केन्द्रित, धर्म-प्रेरित और धर्म-नियन्त्रित था। चर्च का प्रधान पोप होता था। पोप मनुष्य के व्यक्तिगत और धार्मिक जीवन का नियन्ता ही नहीं था अपितु राजनीतिक क्षेत्र में भी उसका प्रभुत्व था।

किन्तु पन्द्रवीं शताब्दी के अन्त से यह एकाधिकार टूटने लगा। प्रश्न उठने लगे और जवाब न मिलने से चर्च के भ्रष्ट तन्त्र का विरोध बढ़ा। पोप से लेकर गाँव के पादरी तक का जीवन कितना भ्रष्ट था? यह भी किसी से छिपा नहीं रह गया था। चर्च के पदाधिकारियों का अनैतिक, ऐश्वर्य एवं विलासितापूर्ण भ्रष्ट जीवन था। चर्च के संगठन के शीर्ष पर इतालवियों का वर्चस्व अन्य देशों के लिये ईर्ष्या का कारण था। आर्थिक शोषण अपनीचरम सीमा पर था। बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना, किसी भी एकाधिकर को स्वीकार करने के लिए तैयार न थी। पुनर्जागरण से उदित चेतना ने चर्च की कमजोरियों को उजागर किया। अब आम यूरोपीय, चर्च द्वारा अपने शोषण के लिये तैयार नहीं था। यूरोपीय मस्तिष्क, जो मध्यकाल तक पूर्णतः ईसाई विचारों से प्रभावित था, एक नई दिशा की ओर अग्रसर हो रहा था। वैज्ञानिक दृष्टि ने मध्यकालीन मान्यताओं को झकझोर दिया। यद्यपि सोलहवीं शताब्दी से पूर्व भी धर्म-विरोधी विचारों का आस्तित्व दिखाई देता है लेकिन वे अधिक विकसित नहीं हो पाये क्योंकि जनसाधारण में उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार नहीं थी। परन्तु सोलहवीं शताब्दी में बौद्धिक क्षेत्र में एक सन्देहात्मक मनःस्थिति का जन्म हुआ जिसके कारण मध्ययुगीन धार्मिक विचारों, धार्मिक संगठन एवं नेतृत्व के प्रति शंका की जाने लगी। शंकालु दृष्टिकोण, बौद्धिक चेतना, शक्तिशाली राज्यों का उदय, पूँजीवाद के उदय से परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियाँ आदि नवीन तत्व धर्म सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि में कार्यरत थे। वस्तुतः धर्म सुधार आन्दोलन मध्य युग की पतझड़ के समय हुआ।

धर्म सुधार का अर्थ, उद्देश्य एवं स्वरूप

सोलहवीं शताब्दी में परिवर्तित परिस्थितियों के कारण यूरोप के ईसाई धर्म के संगठन में एक क्रान्तिकारी परिर्वतन हुआ जिसके परिणामस्वरूप ईसाई मतावलम्बी दो बड़े भागों में विभाजित हो गये-कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट। कैथोलिक धर्म परम्परा से चला आ रहा ईसाई धर्म था जिसका प्रधान पोप था। प्रोटेस्टेन्ट, ईसाई धर्म का सुधरा हुआ रूप था जिसमें पोप का कोई स्थान नहीं था। तत्कालीन युग में ईसाई धर्म या पोप के वर्चस्व के विरुद्ध कुछ कहना बड़ा धृष्टतापूर्ण कार्य था। परन्तु आधुनिक युग के प्रारम्भ में धर्म सुधारकों ने यह कार्य बड़े साहस एवं जोखिम उठाकर किया। धर्म सुधार की यह प्रक्रिया इतिहास में 'धर्म सुधार आन्दोलन' के नाम से विख्यात हैं। वारनर एवं मार्टिन के अनुसार, "धर्म सुधार पोप-पद की सांसारिकता व भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक नैतिक विद्रोह था।" इतिहासकार हेज के अनुसार, "वस्तुतः सोलहवीं सदी के आरम्भ में विवेक की जागृति के कारण बहुसंख्यक ईसाई कैथोलिक चर्च के प्रति कटु आलोचक थे तथा वे चर्च की संस्था को एक सिरे से दूसरे सिरे तक सुधारना चाहते थे। इसी सुधार प्रयास के परिणामस्वरूप जो धार्मिक आन्दोलन हुआ और तज्जनित ईसाई धर्म के अन्तर्गत जो नये-नये धार्मिक सम्प्रदाय बने, उसे समष्टि रूप से सुधार आन्दोलन कहा जाता है।" कुल मिलाकर, धर्म सुधार शब्द यूरोप के इतिहास में उत्तर पुनर्जागरण काल की दो महत्वपूर्ण धाराओं की ओर इंगित करता है। पहली घटना थी-प्रोटेस्टेन्ट क्रान्ति, जिसने ईसाई धर्म में दरार उत्पन्न कर दी और दूसरी थी-अनेक देशों का रोमन कैथोलिक चर्च से नाता तोड़कर राष्ट्रीय आधार पर अलग चर्चों की स्थापना करना। यह हमें समझ लेना चाहिए कि यह धर्म सुधार एक धार्मिक आन्दोलन मात्र नहीं था। यह एक जटिल एवं सुदूरगामी आन्दोलन था। सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भाँति ही यह आन्दोलन मध्ययुगीन सभ्यता के विरुद्ध एक साधारण प्रतिक्रिया मात्र था परन्तु इसने राष्ट्रों के जीवन को अत्याधिक प्रभावित किया

क्योंकी सभी मनुष्य कला एवं साहित्य की अपेक्षा धर्म में अधिक अभिरुचि रखते थे। इस धार्मिक आन्दोलन में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं बौद्धिक पहलू भी सन्निहित है।

मुख्य रूप से धर्मसुधार आन्दोलन के दो प्रमुख उद्देश्य थे-ईसाई लोगों के नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन को पुनः समुन्नत करना तथा रोम के पोप के व्यापक धर्म सम्बन्धी अधिकारों को विनष्ट करना।

धर्म सुधार आन्दोलन के परिणामस्वरूप ईसाईयों में जो नैतिक व आध्ययत्मिक उन्नति हुई, उस दृष्टि से यह वस्तुतः धर्म का सुधार ही था। दूसरी ओर, रोम के पोप के विस्तृत अधिकारों के विरुद्ध हुए जिसकी दृष्टि से, यह एक राजनीतिक आन्दोलन था। प्रो. हर्नशा ने आन्दोलन के स्वरूप के बारे में लिखा है कि "प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन जर्मनी की ट्यूटन जाति का रोमनों के अधिपत्य के विरुद्ध, सांसारिक प्राणियों का पादरियों के आधिपत्य के विरुद्ध, धनी किंतु मितव्ययी वालों का सिद्धान्तविहीन अपव्ययी लोगों के विरुद्ध तथा बौद्धिक स्वतन्त्र के समर्थकों का पोप के अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह था। इन सबसे बढ़कर यह धर्म-परायण जाति का ऐसी प्रथा के विरुद्ध विद्रोह था, जिसे क्षमा पत्रों की बिक्री कहा जाता था और जिससे अत्यधिक दोष उत्पन्न हो गये थे।"

पुनर्जागरण ओर तज्जनित नवीन प्रवृत्तियों ने यूरोप को एक 'खुली खिड़की 'प्रदान की जिसकी ने धर्म पर आच्छादित धूल को हटाने का प्रयास किया। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि यह नवीन वातावरण कैसे बना ?

आन्दोलन के कारण

वैज्ञानिक प्रगति—पुनर्जागरण से चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में जगत् और ईश्वर सम्बन्धी वैज्ञानिक यूनानी विचारों का प्रादुर्भाव हुआ जिसने चर्च की मान्यताओं को धूमिल किया। उदाहरणार्थ, पूर्व काल में टालमी का यह विचार मान्य था कि पृथ्वी सौर-मण्डल का केन्द्र है। यह विश्वास इतना गहरा था कि जब ब्रूनों ने इसका विरोध किया, तब उसे जिन्दा जला दिया गया। जब कॉपरनिक्स ने यह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है तो धर्माचार्यो ने उसे अपने निष्कर्ष वापस लेने को कहा। ऐसे ही समय विचारकों ने धार्मिक विश्वास के विपरीत यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता हो सकता है। मेंरिनर्स कम्पास की खोज से यूरोप के लोगों के विभिन्न गैर-ईसाई संस्कृतियों से सम्बन्ध स्थापित हुए। परिणामस्वरूप ईसाई धर्माडम्बरो का पर्दाफाश हुआ।

शिक्षा का प्रसार—पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व तक यूरोपीय शिक्षा केन्द्रों में केवल धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। किन्तु पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप इटली और यूरोप के शेष भागों में धर्म-निरपेक्ष विषयों का अध्ययन किया जाने लगा। धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के प्रसार से व्यक्ति ईसाई धर्म की कुरीतियों को समझने लगा। यूरोप में शिक्षा के इस प्रसार में छापेखाने के प्रवेश ने बहुत योगदान दिया। 50 वर्षों के थोड़े समय में ही यूरोप में लगभग दस लाख पुस्तकें तैयार हो चुकी थीं। पुस्तकों के प्रसार से ज्ञान और नवीन विचारों का प्रसार सम्भव हुआ। बाइबिल का अनेक देशों की भाषाओं में अनुवाद होने से सामान्यजन भी ईसाई धर्म के मूल को समझने लगे। कई यूरोपीय राज्यों -जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड में नये नये विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई, जो कालान्तर में धर्म सुधार आन्दोलन के अधिकांश नेताओं की गतिविधियों के केन्द्र बने।

आर्थिक परिवर्तन—मध्ययुगीन यूरोप में आर्थिक व्यवस्था कृषि प्रधान थी। सामन्तीय ढाँचे में कृषक को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी क्योंकि वह सामन्त की इच्छा पर निर्भर था। कृषि के अतिरिक्त उद्योग भी श्रेणी-व्यवस्था में बंधे होने के कारण शिल्पी एवं कारीगर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से परे थे परन्तु सोलहवीं शताब्दी में बड़े तथा शक्तिशाली राज्यों की स्थापना से शनैः शनैः सामन्तवादी व्यवस्था टूटने लगी। इससे एक ओर कृषकों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तो दूसरी ओर औद्योगिक क्षेत्र में पूँजी के अभाव और श्रेणियों के कमजोर होने के कारण कारीगरों को भी स्वतन्त्रता मिली। लगभग इसी समय ऐसे वर्ग का उदय हुआ, जो पूँजी लगाकर इन स्वतन्त्र हुए कृषकों एवं मजदूरों से अपनी शर्तों पर उत्पादन कराने के लिए तत्पर था। इस व्यवस्था के जन्म ने अधिक उत्पादन तथा अधिक उत्पादन ने व्यापारिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। व्यापार और उद्योग की उन्नति से समाज में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो धनी था। यह वर्ग धन के प्रयोग से ऐश्वर्य युक्त जीवन व्यतीत करना चाहता था, यद्यपि यह ईसाई धर्म की की परम्परा के प्रतिकूल था। इसके अतिरिक्त, ईसाई धर्म में ब्याज और मुनाफा कमाने का भी निषेध था। इन कारणों से इस वर्ग ने धर्म सुधारों को प्रोत्साहित किया। राजा ने जब धर्म-निरपेक्ष मामलों में पोप के हस्तक्षेप को अनुचित बताकर संघर्ष किया तो व्यापारी वर्ग ने राजा को सहयोग दिया। इस वर्ग की निगाहें

चर्च की अथाह सम्पत्ति और धन पर लगी हुई थी। इस प्रकार आधुनिक युग के आरम्भ में हुए आर्थिक परिवर्तनों ने कैथोलिक चर्च को कमजोर बनाने में यथेष्ट योग दिया।

चर्च संगठन के दोष—मध्यकाल से चर्च का सम्पूर्ण संगठन पूर्णतः दूषित हो चुका था। चर्च तेरहवीं शताब्दी तक आते-आते नियन्त्रण एवं शोषण का शक्तिशाली साधन बन चुका था। चर्च ने एक विशाल श्रेणीबद्ध संस्था का रूप धारण कर लिया था। वह अपने वास्तविक उद्देश्यों को भुला चुका था। शासन एवं समाज के प्रत्येक क्षेत्र पर अंकुश लगाकर चर्च ने काफी शक्ति अर्जित कर ली थी। चर्च एक राजतन्त्र की भाँति कार्य करता था, जिसमें पोप की सत्ता सर्वोच्च थी और समझा जाता था कि 'पोप इज इनफालिएबल'।

प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह बड़ा हो या छोटा, चर्च के सत्ताधिकार में लाने के प्रयास किये गए। प्रत्येक व्यक्ति के लिए वर्ष में एक बार पादरी के सामने मौखिक पाप स्वीकृति करना तथा दिये गये दंड को स्वीकार करना आवश्यक था। इसका पालन न करने वालों को धर्म से निकाल दिया जाता था। ऐसा माना जाता था कि धर्म से निकाला गया व्यक्ति नरक का अधिकारी होता है। मृत्यु हो जाने पर ऐसे व्यक्ति को पारम्परिक धार्मिक नीति से दफनाना निषेध था।

कैथोलिक चर्च की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी—संस्कार पद्धिति, जिसे ईश्वर की कृपा को मनुष्यों तक पहुँचाने का साधन माना जाता था। दूसरे शब्दों में, ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए इन संस्कारों का पालन आवश्यक माना जाता था। संस्कारों के बिना मुक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती थी। संस्कार शास्त्र के अनुसार पुरोहित ईश्वर की सहायता से चमत्कार कर सकता था और पापियों को उनके पाप से मुक्ति दिला सकता था।

बाइबिल में उल्लेख है, 'ऊँट का सुई के छेद से निकलना आसान है, पर किसी धनिक का स्वर्ग पहुँचना मुश्किल है।' परन्तु उसी बाइबिल के सर्वोच्च व्याख्याता भव्य राजप्रसादों में वैभव के साथ रहते थे उनके व्यक्तिगत जीवन में सभी तरह के अनाचारों का प्रवेश हो गया था। एलेक्जेन्डर षष्टम न केवल चरित्र भ्रष्ट था बल्कि निर्लज्ज होकर अपनी नाजायज संतानों को जीवन में आगे बढ़ाने के लिये हर तरह के प्रयत्न करता था। उसका उत्तराधिकरी जूलियस द्वितीय केवल सैनिक कार्यो में दिलचस्पी लेता था। पोप लिओं दशम् प्रतिमाह 6000 "ड्यूकेट" जुए में खर्च करता था। वह धन के लिए जघनय से जघन्य कार्य करने से भी नहीं हिचकता था। उसने धन एकत्र करने के लिये गिरजाघरों के निर्माण तक का बहाना बनाया।

उसके न्यायालय में हर बुरे कार्य के दण्ड से बचने के लिये फीस ली जाती थी। यह स्थिति थी उनकी, जो समाज के लिए सर्वोच्च आर्दश थे। भ्रष्टाचार सारे चर्च में व्याप्त था। चर्च का कोई भी पद बिक सकता था। सारा तन्त्र विलासिता का शिकार था। इससे बड़ा मजाक क्या होगा कि अब छुपकर नहीं खुले आम नियम व अनुशासन का उल्लंघन होता था और कोई जुबान तक नहीं हिला सकता था।

चर्च में फैले भ्रष्टाचार का सीधा सम्बन्ध आर्थिक शोषण से था। हर व्यक्ति को अपनी आय का दशमांश चर्च को देना पड़ता था। चर्च के बढ़ते खर्चों की पूर्ति के लिए कर बढ़ने लगे। निश्चित कर के अतिरिक्त भेंट-उपहार के रूप में चर्च को चढ़ावा देना पड़ता था। कर एवं उपहार देने की प्रथा अन्ततः जनता पर बोझ बन गयी। इस बात पर भी क्षोभ था कि धन विदेश (रोम) चला जाता था। चर्च द्वारा हो रहे आर्थिक शोषण से राजा और धनी दोनों ही क्षुब्ध थे। विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के कारण शासक वर्ग चर्च द्वारा वसूले गये धन को अपने हिस्से की चोरी समझता था। धनिक लोगों को एतराज था कि चर्च का धन अनुत्पादक है। पूँजीवादी व्यवस्था की शुरूआत हो चुकी थी और वह धन बेकार समझा जाने लगा था जो पूंजी बनकर उत्पादन में न लगे। इस प्रकार जनता, व्यापारी, शासक आदि सभी चर्च के विरोधी थे।

राजनीतिक कारण—पोप का राजनीतिक प्रभाव एवं राजाओं द्वारा पोप के प्रभाव से स्वतन्त्र होने की आकांक्षा भी धर्म सुधार आन्दोलन का कारण बनी। मध्ययुग में पोप को व्यापक राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे, जैसे-रोमन कैथोलिक चर्च को मानने वाले राज्यों में आन्तरिक एवं बाह्य हस्तक्षेप, राजा को धर्म से बहिष्कृत करने का अधिकार,राज्यों में चर्च के अधिकारियों की नियुक्ती, किसी राज्य की जनता को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का आदेश देना आदि। किन्तु सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में स्थिति काफी बदल चुकी थी। राजाओं ने सामन्तों का दमन कर निरकुंश राजसत्ता की स्थापना कर ली थी। यूरोप के अधिक भागों में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। इन सबसे राजाओं की स्थिति मजबूत हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में पोप का हस्तक्षेप शासक कैसे स्वीकार करते ?